

## ‘बिहारी सतसई’ में अभिव्यक्त स्त्री की छवियाँ

डॉ. कमला कौशिक

एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, सत्यवती कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत।

### प्रस्तावना

बिहारी रीतिकाल के शिखर रचनाकार हैं। उन्होंने ‘बिहारी-सतसई’ काव्यग्रंथ की रचना की जिसमें 713 दोहे हैं। बिहारी सामंती कवि थे और उनका संबंध दरबार से था। उस समय दरबारों में उर्दू-फारसी के शायरों का बोलबाला था और अपनी काव्य-वक्रता से वे राजाओं को मुग्ध कर लेते थे। इसी समय कवि बिहारी का दरबार में प्रवेश होता है और वे दोहा छंद जैसे सर्वाधिक सरल छंद से अपनी कविताई की धाक सहृदयों पर जमाते हैं। उनके काव्य में विषयों की अपार विविधता है, किंतु उनका केन्द्रीय विषय है— ‘शृंगार’। शृंगार से सौन्दर्य की वृद्धि होती है और आकर्षण से प्रेम का एहसास होता है, प्रेम की चरमावस्था का प्रतिफलन रतिक्रिया में होता है। यानी गाहे-बगाहे बिहारी का प्रेम मांसल सौन्दर्य का काव्यात्मक इजहार के रूप में उभरकर सामने आता है।

बिहारी के काव्य में व्यक्त स्त्री की छवियाँ पर विचार करते हुए कुछ सवाल सामने आते हैं। पहले सवाल की उत्पत्ति विषय के परिमीन से ही होती है कि क्या स्त्री की छवि को संपूर्णता में व्यक्त करने के लिए चार-चरण यानी दो पंक्तियों का दोहा छंद समर्थ है? और यदि समर्थ है भी तो क्या मुक्तक काव्य से ऐसी आशा की जा सकती है कि वह कवि के मन में व्याप्त स्त्री-छवि का सहज प्रतिफलन होने या हो सकने का दावा पेश करे। मेरी समझ में उपर्युक्त दोनों तथ्यों की समर्थता पर विशेष शोध की आवश्यकता है। इसके बरक्स हम देखते हैं कि स्त्री की संपूर्ण छवि को दिखाने के लिए प्रबंधकाव्य की आवश्यकता होती रही है। इसका कारण यह है कि प्रबंधात्मकता में ही इतना अवकाश होता है कि रचनाकार चरित्र का वर्णन करे, विकास करे। ऐसे में क्या बिहारी अपने दोहे के माध्यम से स्त्री की संपूर्ण छवि देख पाएँ अथवा नहीं। या कि उनकी भूमिका उस फोटोग्राफर की तरह तो नहीं है, जो प्राकृतिक सुंदरता को उसके भौगोलिक विशेषता के साथ दिखाने के लिए अपना कैमरा विलक करता है, किंतु उसके विकास को संपूर्णता में नहीं दिखा पाता। क्या यह दोहा छंद की असमर्थता है या फिर बिहारी की कमजोरी! यानी अपनी संपूर्णता में बिहारी के काव्य में स्त्री की कोई पूर्ण छवि नहीं बनती, बल्कि यह छोटे-छोटे शॉट्स का एक संकलन मात्र है, जिसमें किसी को साहित्यिक रस का आनंद मिलता है, तो किसी को विषय-वासना की अंगराई।

‘बिहारी-सतसई’ में स्त्री का प्रथम प्रवेश राधा के रूप में होता है जो सूरदास की राधा न होकर बिहारी की ‘राधा नागरि’ है, जिससे कवि अपनी भव-बाधाओं से मुक्ति की याचना करता है। प्रतीक के रूप में देखें तो राधा एक प्रेमिका भी है, नायिका भी है और सामान्य स्त्री भी, लेकिन सवाल उठता है कि बिहारी ने किसे चुना है? बिहारी की राधा ‘नागरी’ है जो नागरों की सभा में ही रह सकती है। ठेठ समाज जिसके लिए ‘गँवार’ की संज्ञा से विभूषित है।

बिहारी बहुज्ञ रचनाकार हैं। उनकी कविता में स्त्री की छवि का एक सिरा शास्त्रीय पक्ष से जुड़ा है और दूसरा लोक पक्ष से। शास्त्रीय पक्ष के अंतर्गत नायिका भेद वाले दोहों को रखा जा सकता है। पहला भेद, स्वकीया और परकीया के स्तर पर है। बिहारी की नायिका सुशीला, कुलवती आदि स्थापित मर्यादाओं का अतिक्रमण

करती है। उनकी नायिका छलकपट नहीं करती, उनमें भावगोपन की प्रवृत्ति नहीं है। इसलिए वह जटिल चरित्र नहीं है। उनकी नायिका सतही है क्योंकि उसमें विचार का अभाव है, इसलिए वह गहराई से युक्त न होकर इटलाती हुई हमारे सामने आती है। कुछ स्थलों पर बिहारी परकीया नायिका के सहज अनुराग में स्वकीया के प्रेम का भ्रम उत्पन्न करते जान पड़ते हैं। नायिका परकीया है लेकिन उसके मन में एक ही नायक है—

‘सब ही त्यों समुहाति छिनु, चलति सबनु दै पीठि।

वाही त्यों ठहराति यह, कविलनवी लौं, दीठि।।’ (दोहा सं. 30)

स्वकीया-परकीया पर बात करते हुए हमेशा यह ध्यान रखना पड़ता है कि बिहारी के काव्य की स्त्री स्वतंत्र नहीं है, अपितु वह नायक के हिसाब से तय होती है। दूसरे शब्दों में कहें तो ‘बिहारी-सतसई’ की नायिका, नायक सापेक्ष है। नायक को विस्मृत कर नायिका का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। किंतु एक और समस्या जो ‘बिहारी-सतसई’ को पढ़ते हुए होती है कि इसमें उन अर्थों में नायक भेद नहीं मिलता जिस तरह नायिका भेद उपस्थित है। यहाँ नायिका के कई सारे भेद मिलते हैं, लेकिन नायक के नहीं। यह सवाल उठाना वाजिब है कि ऐसा क्यों है? दरअसल बिहारी की कविताएँ विलासी सामंती-समाज को संबोधित है जिन्हें सुनाकर वाह-जी-वाह कहलवा लेना ही कवि की कविताई की सार्थकता है। इसलिए पुरुष श्रोता-वर्ग को नायक-भेद की कविता सुनाने से विकर्षण का खतरा कवि के मन में था। यही कारण है कि कवि की दृष्टि नायिका के ही वर्णन में रमी है और इसके बहाने थोड़ा-बहुत नायक की छवि का उभरना प्रसंगवश है, इसे हम सहोत्पाद (By Product) भी कह सकते हैं। स्वकीया नायिका के भी कई भेद बिहारी के काव्य में मौजूद हैं। एक छवि नवयौवना मुग्धा नायिका की है। कवि नायिका की देहयष्टि के विकसित होने को काव्य में दर्ज करता है—

‘अपने अँग के जानि कै जोबन-नृपति प्रबीन।

स्तन, मन, नैन, नितंब की बड़ौ इजाफा कीन।।’ (दोहा सं. 2)

एक अन्य स्थल पर मानिनी नायिका के मान का वर्णन है। यहाँ नायिका का मान ‘स्वामिमान’ नहीं है, अपितु आरोपित मान का वर्णन है क्योंकि तत्कालीन परिवेश में काव्य और दरबार में स्त्री की स्थिति वस्तुतुल्य थी।

‘चितवनि रुखे दृगनु की, हाँसि-बिनु मुसकानि।

मानु जनायौ मानिनी, जानि लियौ पिय, जानि।।’ (दोहा सं. 29)

जब स्त्री की सामाजिक स्थिति निम्न हो जहाँ उसकी कोई स्वतंत्र छवि न हो और पुरुष (नायक) के व्याकरण से उसके देह-वाक्य का निर्धारण होता रहा हो तो ऐसी अवस्था में प्रेम की कमी या चाहत की कमी होने पर नायिका का विरहाग्नि में जलना तय है। इस

तरह के अभावग्रस्त नायिका की कई छवियाँ 'बिहारी-सतसई' में देखी जा सकती हैं।

एक जगह उत्तमा खंडिता नायिका की स्थिति का जिक्र है—

वाही की चित चटपटी, धरत अटपटे पाइ।  
लपट बुझावत बिरह की, कपट-भरेऊ आइ।।' (दोहा सं. 33)

इस दोहा से यह ध्वनित होता है कि यह नायिका विकल्पहीनता से ग्रसित है। नायक अन्य स्त्री के पास रात बिता कर आया है, इसके प्रमाण मिलने के बावजूद नायिका कुछ नहीं कहती अपितु नायक के प्रति आभार ही व्यक्त करती है। संभवतः यह रीतिकालीन नायिकाओं की त्रासदी है।

इसी तरह वियोगिनी (विरहिनी) नायिका अपनी दशा कहती है—

जब जब वै सुधि कीजियै, तब तब सब सुधि जाँहि।  
आँखिनु आँखि लगी रहै, आँखें लगति नाँहि।।' (दोहा सं. 62)

एक और स्थिति है, जहाँ प्रोषितपतिका नायिका पत्र के माध्यम से अपनी विरह दशा का कुछ अंश नायक को बताना चाहती है, लेकिन बता नहीं पाती—

कागद पर लिखत न बनत, कहत संदेसु लजात।  
कहिहै सबु तेरौ हियौ मेरे हिय की बात।।' (दोहा सं. 60)

यहाँ तक तो सही है कि नायक के परदेश जाने से नायिका व्यथित है और उस तक अपनी पीड़ा पहुँचाना चाहती है ताकि वह लौटकर पुनः पास आ जाए। किंतु नायिका द्वारा पत्र लिखे जाने की बात थोड़ी-सी अस्वाभाविक लगती है। क्या रीतिकाल में हमारे यहाँ स्त्री-शिक्षा उतनी थी जिससे सामान्य स्त्री (विदुषी नहीं) लिखना-पढ़ना जानती हो। यदि यह सच है तो बिहारी की नायिका को साक्षर माना जा सकता है अथवा यह कवि की खालिस कल्पना है।

एक स्थिति खंडिता नायिका की है जो नायक के परकीया के पास जाने से कुछ कुपित है—

'वेई गड़ि गाड़ें परीं, उपटयौ हारु हियै न।  
आन्यौ मोरि मतंगु मनु मारि गुरेरनु मैन।।' (दोहा सं. 97)

कवि बिहारी ने स्वकीया के साथ परकीया नायिका का भी वर्णन किया है। परकीया नायिकाओं में 'गणिका' अपनी स्वेच्छाचारिता और रूपाजीविता के लिए सदा से ख्यात रही है। किंतु ऐसा लगता है जैसे बिहारी गणिका को भी अपनी सामंती मानसिकता से ही देखते हैं। यानी उसे भी पुरुष विशेष के रहमोकरम पर ही जीवित दिखलाते हैं। एक दोहा है, जिसमें गणिका नायिका अपने प्रेमी वैशिक नायक को पत्र लिखती है—

'कहा भयौ जौ बीछुरे, मो मनु तोमन-साथ।  
उड़ी जाउ कित हूँ, तऊ गुड़ी उड़ाइक हाथ।।' (दोहा सं. 57)

यहाँ गणिका नायिका स्वयं को अपने प्रेमी वैशिक नायक के हाथ की पतंग मानती है। यानी तत्कालीन समाज में इनकी स्थिति पतंग की भाँति थी जिसे उड़ानेवाला जब तक चाहे फड़फड़ा सकता है और उन दोनों के बीच प्रेम/भोग की डोर टूटते ही वह गणिका नायिका निराधार हो जाती है। यह स्थिति स्वतंत्र होने की नहीं अपितु असहाय होने की स्थिति को ध्वनित करता है।

परकीया नायिकाओं में एक छवि कुलटा की भी है। कुलटा नायिका दरबारी काव्य का एक रोचक विषय रहा है जिसे यह मानकर चला जाता है कि यह मुक्तभोगी स्त्री है। इसलिए इसके वर्णन में सब जायज है।

'लखि लोने लोइननु कै, कोइन, होई न आजु।  
कौनु गरीबु निवाजिबौ, कित तूद्यू रतिराजु।।' (दोहा सं. 58)

'बिहारी-सतसई' में परकीया नायिका की एक और विषम छवि मिलती है, जहाँ नायिका मूलतः परकीया है, वह रात भर नायक से समागम करती है, किंतु सुबह होने पर वह कुलकानि कहे जाने के डर से, कुलवंती बने रहने की गरज से वह नायक से प्रार्थना करती है कि अब जल्दी से घर चलना चाहिए—

'कंजु-भवन तजि भवन कौं चलियै नंदकिसोर।  
फूलति कली गुलाब की, चटकाहट चहुँ ओर।।' (दोहा सं. 84)

'कुलकानि' और 'कुलवंती' समाज के दो स्थापित मान्यताओं के बीच यह परकीया नायिका रगड़ खाती है, जिसके रगड़ से उसके कामासक्ति की अदम्य इच्छा खुरच-खुरच कर सामने आती है। किंतु यह मर्यादाबोध है, जो उसे अपने देह को खुला छोड़ देने का अवकाश नहीं देता।

'बिहारी-सतसई' में अवस्था के आधार पर भी नायिका भेद मिलता है। जैसे-जैसे नायिका की अवस्था बदलती है उसी के सापेक्ष उसमें भेद होता चला जाता है। एक वर्णन वयःसंधि की बेला पर खड़े नायिका की है जहाँ शैशव और यौवन में द्वन्द्व की स्थिति है। शैशव तो चला गया है लेकिन उसके अनुभव बचे हैं, जबकि यौवन अपने दल-बल के साथ साम्राज्य स्थापित करने आ पहुँचा है। शैशव जाना नहीं चाहता और यौवन उसे रहने नहीं देना चाहता। यानी गत-आगत के बीच संघर्ष चल रहा है जिससे नायिका की देह-दीप्ति निखर रही है —

'छुटी न सिसुता की झलक, झलक्यौ जोबनु अंग।  
दीपति देह दुहून मिलि दिपति ताफता-रंग।।' (दोहा सं. 70)

इसके अलावा मध्या (दोहा सं. 14) और प्रौढ़ा (दोहा सं. 146) नायिका के भी चित्र मिलते हैं।

'बिहारी-सतसई' में स्त्री छवि के विशेष संदर्भ में एक बात जो बड़ी महत्वपूर्ण है कि नायिका भेद के अंतर्गत जो स्त्रियाँ आई हैं, वह विलासी सामंती समाज की दूषित मानसिकता की उपज हैं। ये उत्पादित स्त्रियाँ उत्पादन के कर्म से कटी हुई हैं, ये उपभोगी नायिका हैं जिनका मूल उद्देश्य विलास और रमन करना है। इन विलासी नायिकाओं के अवांतर एक विशाल समाज है जिसमें श्रम से जुड़ी स्त्रियों का प्रेम है। यदि नायिका के ही आसपास देखें तो 'सखि', 'अलि' और 'दुति' तीन तरह की स्त्री छवि सामने आती है। सखी नायक और नायिका को मिलाने के लिए प्रतिबद्ध है, किंतु यह मर्यादित चरित्र है। आश्चर्य होता है कि स्वयं स्त्री होते हुए भी सखी की अपनी कोई जरूरत नहीं दिखाई देती। ऐसा लगता है जैसे उसका जीवन नायक-नायिका के लिए ही समर्पित है—

कहा लेहुगे खेल पै, तजौ अटपटी बात।  
नैक हँसौही हैं भई भौहैं, सौहैं खात।।' (दोहा सं. 49)

दूसरी स्त्री है— 'अलि'। सखी के बाद अलि ही नायिका की सबसे वफादार है। सखी और अली एक सामाजिक स्त्री है। यह रीतिकाल के सामाजिक मर्यादाबोध की वाहिका है। इनमें एक नैतिक चेतना

(Moral Consensus) गहरे रूप में विद्यमान है। करनीय और अकरनीय का विवेक इनकी मौलिकता का परिचायक है। तीसरी स्त्री है— 'दुति'। बिहारी के काव्य में दुति एक श्रोता की हैसियत से मौजूद है, लेकिन अवसर पड़ने पर वह नायक—नायिका के बीच कुशल संवादिया की भूमिका भी निभाती है—

द्वैज—सुधादीधिति—कला वह लखि, दीठि लगाई।  
मनौ अकास—अगस्तिया एकै कली लखाई।।' (दोहा सं. 92)

नायिका, सखि और अलि की त्रिमूर्ति जहाँ मौजूद हो वहाँ 'सौतिया डाह' शुरू हो जाए तो कोई अचरज नहीं हो सकता। बिहारी के काव्य में नायिका के सौन्दर्य वृद्धि का एक अहैतुक कारण सौत यानी नायक की सपत्नी को जलाना भी है। इससे सखियाँ प्रसन्न होती हैं—

'देह दुलहिया की बढ़ै, ज्यों—ज्यों जोबन जोति।  
त्यों—त्यों लखि सौत्यों सबै बदन मलिन दुति होति।।' (दोहा सं. 40)

सखि द्वारा नायिका की देहयष्टि वर्णन का अभिप्राय नायक की सपत्नी को कमतर बतलाना है। यह रीतिकाल के काव्य में आई स्त्री की वास्तविकता है कि वह स्वयं स्त्री होकर भी अन्य स्त्री को हेय या तुच्छ साबित करने की कोई भी बाजी हाथ से नहीं जाने देती।

चूँकि नायिका विलासी है इसलिए उसे सजाने—सँवारने के लिए भी दूसरे की जरूरत है। इसी हेतु नाइन (हजामिन) स्त्री सामने दिखाई देती है। किंतु इसकी अवतारणा कवि ने स्वतंत्र रूप से न करके नायिका के ही रूपकातिशयोक्ति के बखान के अवसर पर किया है—

'पाइ महावर दैन कौं नाइनि बैठी आइ।  
फिरि फिरि, जानि महावरी, एड़ी मीडति जाई।।' (दोहा सं. 35)

इस दोहे में नायिका की रक्तिम एड़ी की बड़ाई में बिहारी ने नाइन की मतिभ्रमता की स्थिति को पेश किया है, यह उनके विशुद्ध सामंती मिजाज को दर्शाता है; जहाँ सुन्दर बुद्धि उसी में हो सकती है जिसकी सुंदर शरीर हो।

चमड़े के सौन्दर्य से ही ज्ञान का सौन्दर्य निर्धारित होता है— यह पद इसी मानसिकता का परिचायक है:

गदराने तर गोरटी, ऐपन आडु लिलार।  
हूट्यो दै, इठलाइ, दृग करै गँवारि सुवार।।' (दोहा सं. 93)

नागर संस्कृति के पोषक बिहारी ने ग्राम्य संस्कृति और ग्रामीण स्त्रियों का जो मजाक उड़ाया है वह उनकी दृष्टि—संकीर्णता को बतलाता है। एक जगह उन्होंने भले ही श्रम का सौन्दर्य देखा है—

'अहे दहेड़ी जिनि धरै, जिन तूँ लेहि उतारि।  
नीकै है छीकै छुवै, ऐसै ही रहि नारि।।' (दोहा सं. 699)

किंतु यह श्रम करती हुई स्त्री के गतिशील सौन्दर्य का वर्णन न होकर देह—भंगिमा का स्थूल चित्रण भर है। यहाँ मांसल, गदराए हुए यौवन को कर्मरत देखकर उसे छलकती हुई मदिरा वाली निगाह से देखा गया है। ऐसा लगता है जैसे मांसल शरीर और 'खरे उरोज' में दिलचस्पी लेते हुए भी 'गँवारि' शब्द उनके नजर में मूर्खता का पर्याय है।

सबै हँसत करतारि दै नागरत कैं नावै।  
गयो गरब गुण कौ सरब बसत गँवारे गाँव।।' (दोहा सं. 276)

मोटे तौर पर देखा जाए तो यह कहा जा सकता है कि बिहारी के काव्य में शास्त्रीय नायिका और लोक नायिका दोनों की छवियाँ मिलती हैं लेकिन बिहारी ने इनका वर्णन जिस तबियत से किया है ऐसा लगता है कि देहसुख टटोलती आँखें इन स्त्रियों का पीछा कर रही हैं।

'बिहारी—सतसई' में एकाधिक जगह पारिवारिक स्त्री का भी जिक्र आया है। भौजाई (स्त्री) अपनी कुल मर्यादा, पातिव्रत मर्यादा बनाए रखना चाहती है और ऐसा न हो पाने पर उसे तकलीफ होती है—

कहति न देवर की कुबत कुल—तिय कलह डराति।  
पंजर—गत मंजार—ढिग सुक ज्यों सूकति जाति।।' (दोहा सं. 85)

इस दोहे को बिहारी के काव्य की सामाजिक संबद्धता या समाज को उनका दाय के रूप में देखा जा सकता है। भौजाई एक तरफ देवर के अनुचित प्रेम की चाह से डर रही है और उसे डॉट भी नहीं पा रही है, क्योंकि ऐसा करने पर बात खुल जाएगा और संभवतः परिवार में कलह बढ़ेगी। परिणामतः परिवार की संयुक्तता खतरे में पड़ जाएगी। यहाँ बिहारी का समाजबोध अपनी श्रेष्ठता को प्राप्त करता है। कारण कि वे एक ऐसी गृहस्थ स्त्री का चित्रण करते हैं जो अपने पति में अनुरक्त है, परिवार से स्नेह करती है और परिवार—संस्था को बचाने के लिए चिंतित है। यहाँ विचार का, विवेक का सौन्दर्य उद्घाटित होता है जो अन्यत्र वर्णित मांसल सौन्दर्य पर भारी है और टिकाऊ भी।

इस रूप में हम देखते हैं कि बिहारी के काव्य में स्त्री—छवि की विशद जनतात्रिकता है, जहाँ सभी को अपनी मनमर्जी के छवि चुनने की स्वतंत्रता है। प्रत्येक छवि की अपनी उपादेयता है, रसिकों के लिए यह रसकलश है, तो साहित्यिकों के लिए स्त्री की नाना प्रकार की मूर्तियाँ। नवयुवक—नवयुवती के लिए प्रेम की तरह—तरह की घातें हैं तो कामी के लिए प्रेम और वासना की कुशती। संपूर्णता में देखें तो कह सकते हैं कि यह दरबारी मस्ती से युक्त स्त्री छवि की चित्रशाला है, किंतु इसमें औरों को भी जगह दिया गया है। हालांकि किसी एक छवि के प्रति आग्रह या दुराग्रह की भी गुंजाइश देखी जाती है, इससे इंकार नहीं किया जा सकता।

### संदर्भ ग्रंथ

1. बिहारी रत्नाकर : श्री जगन्नाथ दास रत्नाकर, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 1999 ई.
2. बिहारी रत्नाकर : (सं.) डॉ. बलराम तिवारी, अनुपम प्रकाशन, पटना, संस्करण 2002 ई.